सवा सेर गेहूँ

प्रेमचन्द

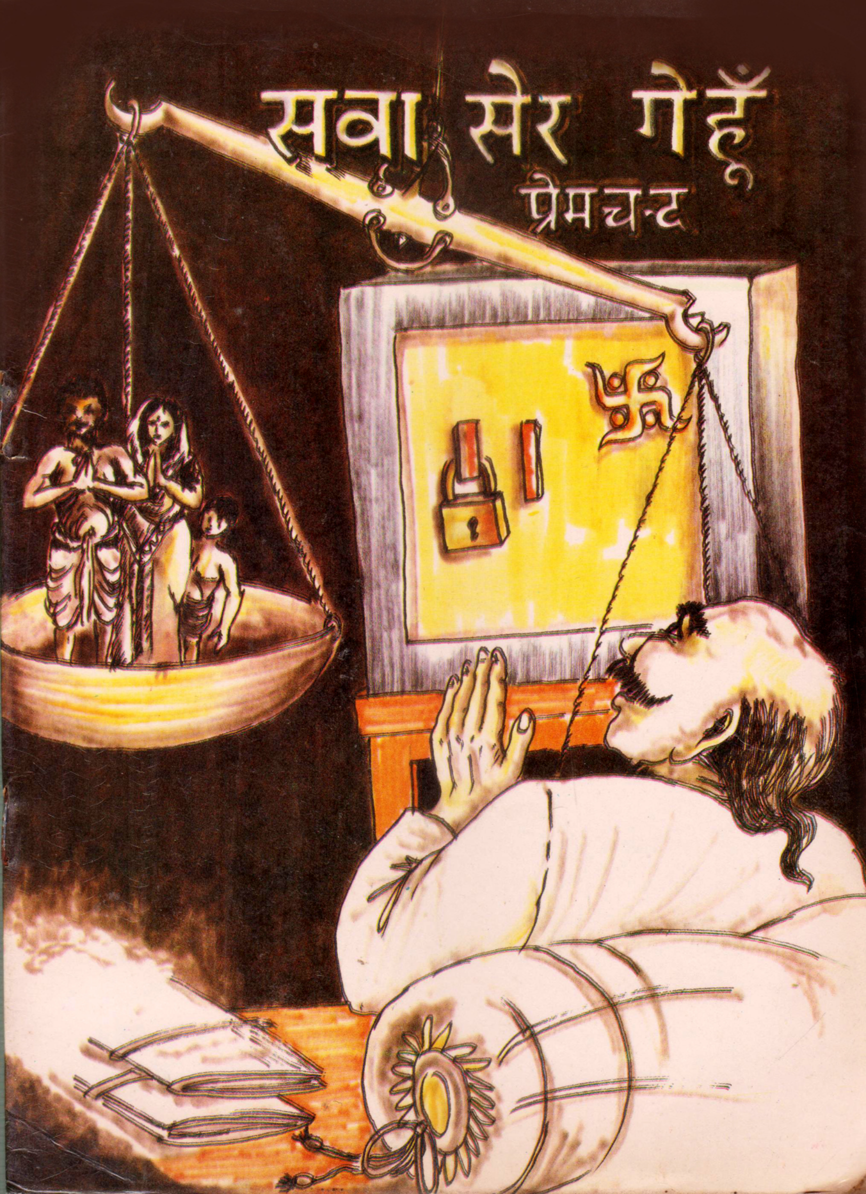

सवा सेर गेहूँ

प्रेमचंद

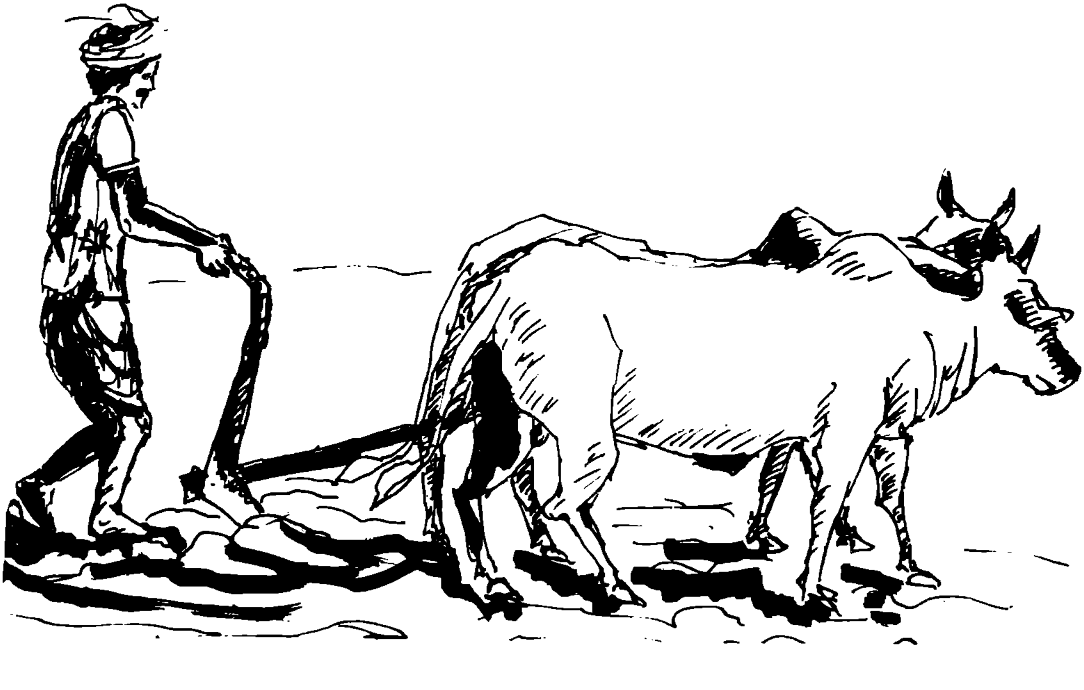

चित्रांकन

तपन चन्द्र भौमिक

मूल्य	:	10.00 रु०
संस्करण	:	1995
प्रकाशक	:	साक्षरता केन्द्र भवन संख्या 64, रेलवे रोड-II, हापुड़-245101
लेजर कम्पोजिंग	:	अजय प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032
मुद्रक	:	जयमाया ऑफसेट शाहदरा, दिल्ली-110032

सवा सेर गेहूँ

एक गाँव में शंकर नाम का एक किसान रहता था। वह सीधा-सादा, गरीब आदमी था। अपने काम से काम रखता था, न किसी के लेने में था, न देने में। छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी। ठगे जाने की चिंता नहीं थी, ठगविद्या बिल्कुल न जानता था। भोजन मिला, खा लिया, न मिला चबेने पर काट दी, चबेना भी न मिला, तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा।

किंतु जब कोई अतिथि द्वार पर आ जाता था, तो उसे इस मोक्ष मार्ग का त्याग करना पड़ता था। विशेषकर जब साधू-महात्मा आते थे, तो उसे जरूर सांसारिकता की शरण लेनी पड़ती थी। खुद भूखा सो सकता था, पर साधू को कैसे भूखा सुलाता, भगवान् के भक्त ठहरे।

एक दिन संध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीताम्बर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमण्डल हाथ में, खड़ाऊँ पैर में, ऐनक आँखों पर, सम्पूर्ण वेष उन महात्माओं का-सा था, जो रईसों के प्रासादों में तपस्या, हवागाड़ियों पर देवस्थानों की परिक्रमा और योग सिद्धि प्राप्त करने के लिए रुचिकर भोजन करते हैं। घर में जौ का आटा था, वह उन्हें कैसे खिलाता?

प्राचीन काल में जौ का चाहे जो कछ महत्व रहा हो, पर वर्तमान युग में जौ का भोजन सिद्ध पुरुषों के लिए दुष्पाच्य होता है। बड़ी चिंता हुई, महात्माजी को क्या खिलाऊँ? आखिर निश्चय किया कि कहीं से गेहूँ का आटा उधार लाऊँ, पर गाँव भर में गेहूँ का आटा न मिला। गाँव में सब मनुष्य थे, देवता एक भी न था, अतएव देवताओं का खाद्य-पदार्थ कैसे मिलता? सौभाग्य से गाँव के विप्र महाराज के यहाँ से थोड़े-से मिल गए। उनसे सवा सेर गेहूँ उधार लिया और

स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्मा ने भोजन किया और लम्बी तानकर सोए। प्रातःकाल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली।

विप्र महाराज साल में दो बार खलिहानी लिया करते थे। शंकर ने दिल में कहा, सवा सेर गेहूँ इन्हें क्या लौटाऊँ, पंसेरी के बदले कुछ ज्यादा खलिहानी दे दूँ, यह भी समझ जाएँगे, मैं भी समझ जाऊँगा। चैत में जब विप्रजी पहुँचे तो उन्हें डेढ़ पसेरी के लगभग गेहूँ दिया और अपने को उऋण समझकर उसकी कोई चर्चा न की। विप्रजी ने फिर न माँगा। सरल शंकर को क्या मालूम था कि यह सवा सेर गेहूँ चुकाने के लिए मुझे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा।

सात साल गुजर गए। विप्रजी विप्र से महाजन हुए शंकर किसान से मजूर हो गया।

उसका छोटा भाई मंगल उससे अलग हो गया था। एक साथ रहकर दोनों किसान थे, अलग होकर मजूर हो गए थे। शंकर ने चाहा कि द्वेष की आग भड़कने न पाए, किन्तु परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया। जिस दिन अलग-अलग चूल्हे जले, वह फूट-फूटकर रोया। आज से भाई-भाई शत्रु हो जाएँगे, एक रोएगा तो दूसरा हँसेगा, एक के घर मातम होगा तो दूसरे के घर गुलगुले पकेंगे, प्रेम का बंधन, दूध का बंधन, आज टूटा जाता है। उसने भगीरथ परिश्रम से कुल मर्यादा का वृक्ष लगाया था, उसे अपने रक्त से सींचा था, उसका जड़ से उखड़ना देखकर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। सात दिनों तक उसने दाने की सूरत तक न देखी। दिन भर जेठ की धूप में काम करता और रात को मुँह लपेटकर सो रहता।

इस भीषण वेदना और दुस्सह कष्ट ने रक्त ही जला दिया, माँस और मज्जा को घुला दिया। बीमार पड़ा तो महीनों खाट से न उठा। अब गुजर-बसर कैसे हो? पाँच बीघे के आधे खेत रह गए, एक बैल रह गया, खेती क्या खाक होती! अंत को यहाँ तक नौबत पहुँची कि खेती केवल मर्यादा-रक्षा का

साधन-मात्र रह गई, जीविका का भार मजूरी पर आ पड़ा।

सात वर्ष बीत गए, एक दिन शंकर मजूरी करके लौटा, तो राह में विप्रजी ने टोककर कहा—शंकर, कल आके अपने बीज-बेंग का हिसाब कर ले। तेरे यहाँ साढ़े पाँच मन गेहूँ कब से बाकी पड़े हुए हैं और तू देने का नाम नहीं लेता, हज़म करने का मन है क्या?

शंकर ने चकित होकर कहा—मैंने तुमसे कब गेहूँ लिए थे, जो साढ़े पाँच मन हो गए? तुम भूलते हो, मेरे यहाँ किसी का छटांक भर न अनाज है, न एक पैसा उधार।

विप्र—इसी नीयत का तो यह फल भोग रहे हो कि खाने को नहीं जुड़ता। यह कहकर विप्रजी ने उस सवा सेर गेहूँ का जिक्र किया, जो आज से सात वर्ष पहले शंकर को दिए थे, शंकर सुनकर अवाक् रह गया। ईश्वर! मैंने इन्हें कितनी बार खलिहानी दी, इन्होंने मेरा कौन-सा काम किया? जब पोथी-पत्रा देखते, साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ न कुछ 'दक्षिना' ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ! सवा सेर अनाज को अंडे की भाँति सेकर आज यह पिशाच खड़ा कर दिया, जो मुझे निगल ही जाएगा। इतने दिनों में एक बार भी कह देते तो मैं गेहूँ तौलकर दे देता, क्या इसी नीयत से चुप साधे बैठे रहे!

बोला—महाराज, नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नहीं दिया, पर कई बार खलिहानी में सेर-सेर, दो-दो सेर दिया है। अब आप आज साढ़े पाँच मन माँगते हैं, कहाँ से दूँगा?

विप्र—लेखा जौ जौ, बखसीस सौ सौ। तुमने जो कुछ दिया होगा, उसका कोई हिसाब नहीं, चाहे एक की जगह चार पसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही में साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है, जिससे चाहे हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेक दूँ, नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा।

शंकर—पांडे, क्यों एक गरीब को सताते हो, मेरे खाने का ठिकाना नहीं, इतना गेहूँ किसके घर से लाऊँगा?

विप्र—जिसके घर से चाहे लाओ, मैं छटाँक भर न छोड़ूँगा। यहाँ न दोगे, भगवान् के घर तो दोगे?

शंकर काँप उठा। हम पढ़े-लिखे आदमी होते तो कह देते, अच्छी बात है, ईश्वर के घर ही देंगे; वहाँ की तौल यहाँ से कुछ बड़ी तो न होगी। कम से कम इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं, फिर उसकी क्या चिंता। किंतु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार-चतुर न था। एक तो ऋण—वह भी ब्राह्मण का—बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊँगा, इस ख्याल से उसे रोमांच हो गया। बोला महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूँगा, ईश्वर के यहाँ क्यों दूँ? इस जनम में तो ठोकर खा ही रहा हूँ, उस जनम के लिए क्यों काँटे बोऊँ? मगर यह कोई नियाव नहीं है। तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण होके तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। उसी घड़ा तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझा क्यों पड़ता? मैं तो दूँगा, लेकिन तुम्हें भगवान के यहाँ जवाब देना पड़ेगा।

विप्र—वहाँ का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यों होने लगा। वहाँ तो सब अपने ही भाई-बंधु हैं। ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं; देवता ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने-बिगड़ेगी, सँभाल लेंगे। तो कब देते हो?

शंकर—मेरे पास रक्खा तो है नहीं, किसी से माँग-जाँचकर लाऊँगा तभी न दूँगा!

विप्र—मैं न माँगूगा। सात साल हो गए, अब एक दिन का भी मुलाहिजा न करूँगा। गेहूँ नहीं दे सकते; दस्तावेज लिख दो।

शंकर—मुझे तो देना है, चाहे गेहूँ लो चाहे दस्तावेज लिखाओ, किस हिसाब से दाम रक्खोगे?

विप्र—बाजार भाव पांच सेर का है, तुम्हें सवा पाँच सेर का काट दूँगा।

शंकर—जब दे ही रहा हूँ तो बाजार-भाव काटूँगा, पाव भर छुड़ाकर क्यों दोषी बनूँ?

हिसाब लगाया तो गेहूँ के दाम 60 रु० हुए। 60 रु० का दस्तावेज लिखा गया। 3 रु० सैकड़े सूद। साल भर में न देने पर सूद का दर साढ़े तीन रु० सैकड़ें, बारह आने का स्टाम्प, 1 रु० दस्तावेज की तहरीर शंकर को ऊपर से देनी पड़ी।

गाँव भर ने विप्रजी की निंदा की, लेकिन मुँह पर नहीं। महाजन से सभी का काम पड़ता है, उसके मुँह कौन आए।

शंकर ने साल भर तक कठिन तपस्या की, मीयाद के पहले रुपए अदा करने का उसने व्रत-सा कर लिया। दोपहर को पहले भी चूल्हा न जलता था, चबेने पर बसर होती थी, अब वह भी बंद हुआ, केवल लड़के के लिए रात को रोटियाँ रख दी जातीं। पैसे रोज का तम्बाकू पी जाता था, यही एक व्यसन था जिसका वह कभी त्याग न कर सका था। अब वह व्यसन भी इस कठिन व्रत की भेंट हो गया। उसने चिलम पटक दी, हुक्का तोड़ दिया और तम्बाकू की हाँड़ी चूर-चूर कर डाली।

कपड़े पहले भी त्याग की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे, अब वह प्रकृति की न्यूनतम रेखाओं में आबद्ध हो गए। शिशिर की अस्थि-बेधक शीत को उसने आग तापकर काट दिया। इस ध्रुव-संकल्प का फल आशा से बढ़कर निकला। साल के अंत में उसके पास 60 रु० जमा हो गए।

उसने सोचा—पंडितजी को इतने रुपए दे दूँगा और कहूँगा—महाराज, बाकी रुपए भी जल्दी ही आपके सामने हाजिर करूँगा। 15 रु० की तो और बात है, क्या पंडितजी इतना भी न मानेंगे ?

उसने रुपए लिये और ले जाकर पंडितजी के चरण कमलों पर अर्पण कर दिए।

पंडितजी ने विस्मित होकर पूछा—किसी से उधार लिए क्या ?

शंकर—नहीं महाराज, आपके असीस से अबकी मजूरी अच्छी मिली।

विप्र—लेकिन यह तो 60 रु० ही हैं।

शंकर—हाँ महाराज, इतने अभी ले लीजिए, बाकी मैं दो-तीन महीने में दे दूँगा, मुझे उरिन कर दीजिए।

विप्र—उरिन तो तभी होगे जब कि मेरी कौड़ी चुका दोगे। जाकर मेरे 15 रु० और लाओ।

शंकर—महाराज, इतनी दया करो, अब साँझ की रोटियों का भी ठिकाना नहीं है, गाँव में हूँ तो कभी दे ही दूँगा।

विप्र—मैं यह रोग नहीं पालता, न बहुत बातें करना जानता हूँ। अगर मेरे पूरे रुपए न मिलेंगे, तो आज से साढ़े तीन रुपये सैकड़ें का ब्याज लगेगा। अपने रुपये चाहे अपने घर में रक्खो, चाहे मेरे यहाँ छोड़ जाओ।

शंकर जितना लाया हूँ, इतना रख लीजिए। मैं जाता हूँ, कहीं से 15 रु० और लाने की फिक्र करता हूँ।

शंकर ने सारा गाँव छान मारा, मगर किसी ने रुपये न दिये, इसलिए नहीं कि उसका विश्वास न था या किसी के पास रुपये न थे, बल्कि इसलिए कि पंडितजी के शिकार को छेड़ने की किसी की हिम्मत न थी।

क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया नैसर्गिक नियम है। शंकर साल भर तक तपस्या करने पर भी ऋण से मुक्त होने में सफल न हो सका, तो उसका संयम निराशा के रूप में परिणत हो गया। उसने समझ लिया कि जब इतना कष्ट सहने पर भी साल भर में 60 रु० से अधिक न जमा कर सका, तो अब और कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा इनसे दूने रुपये जमा हों। जब सिर पर ऋण का बोझ ही लादना है, तो क्या मन भर का और सवा मन का? उत्साह क्षीण हो गया, मेहनत से घृणा हो गई। आशा उत्साह की जननी है, आशा में तेज हैं, बल है, जीवन है। आशा ही संसार की संचालक-शक्ति है।

शंकर आशाहीन होकर उदासीन हो गया। वह जरूरतें, जिनको उसने साल

भर तक टाल रखा था, अब द्वार पर खड़ी भिखारिणी न थीं, बल्कि छाती पर सवार होनेवाली पिशाचिनियाँ थीं, जो अपनी भेंट लिये बिना जान नहीं छोड़तीं। कपड़ों में चकत्तियों के लगने की भी एक सीमा होती है। अब शंकर को चिट्ठा मिलता तो वह रुपये जमा न करता, कभी कपड़े लाता, कभी खाने की कोई वस्तु। जहाँ पहले तमाखू ही पिया करता था, वहाँ अब गाँजे और चरस का चस्का भी लगा। उसे अब रुपये अदा करने की कोई चिंता न थी, मानो उसके ऊपर किसी का एक पैसा भी नहीं हो। पहले जूड़ी चढ़ी होती थी, पर वह काम करने अवश्य जाता था, अब काम पर न जाने के लिए बहाना खोजा करता।

इस भाँति तीन वर्ष निकल गए। विप्रजी महाराज ने एक बार भी तकाजा न किया। वह चतुर शिकारी की भाँति अचूक निशाना लगाना चाहते थे। पहले से शिकार को चौंकाना उनकी नीति के विरुद्ध था।

एक दिन पंडितजी ने शंकर को बुलाकर हिसाब दिखाया। 60 रु० जो जमा थे, वह मिनहा करने पर अब भी शंकर के जिम्मे 120 रु० निकले।

शंकर—इतने रुपये तो उसी जन्म में दूँगा, इस जन्म में नहीं हो सकते।

विप्र—मैं इस जन्म में लूँगा। मूल न सही, सूद तो देना ही पड़ेगा।

शंकर—एक बैल है, वह ले लीजिए; एक झोंपड़ी है, वह ले लीजिए और मेरे पास रक्खा क्या है?

विप्र—मुझे बैल-बधिया लेकर क्या करना है। मुझे देने को तुम्हारे पास बहुत कुछ है।

शंकर—और क्या है महाराज?

विप्र—कुछ नहीं है, तुम तो हो। आखिर तुम भी कहीं मजूरी करने जाते ही हो, मुझे भी खेती के लिए मजूर रखना ही पड़ता है। सूद में तुम हमारे यहाँ काम करो, जब सुभीता हो, मूल भी दे देना। सच तो यों है कि अब तुम किसी दूसरी जगह काम करने नहीं जा सकते, जब तक रुपये नहीं चुका दो। तुम्हारे पास कोई जायदाद नहीं है, इतनी बड़ी गठरी मैं किस एतबार पर छोड़ दूँ? कौन इसका

इसका जिम्मा लेगा कि तुम मुझे महीने-महीने सूद देते जाओगे। और कहीं कमाकर जब तुम मुझे सूद भी नहीं दे सकते, तो मूल की कौन कहे?

शंकर—महाराज, सूद में तो काम करूँगा और खाऊँगा क्या?

विप्र—तुम्हारी घरवाली है, लड़के हैं, क्या वे हाथ-पाँव कटाके बैठेंगे? रहा मैं, तुम्हें आधे सेर जौ कलेवा के लिए दे दिया करूँगा। ओढ़ने को साल में एक कंबल पा जाओगे, एक मिरजई भी बनवा दिया करूँगा, और क्या चाहिए! यह सच है कि और लोग तुम्हें छः आने रोज देते हैं, लेकिन मुझे ऐसी गरज नहीं है, मैं तो तुम्हें अपने रुपये भराने के लिए रखता हूँ।

शंकर ने कुछ देर तक गहरी चिंता में पड़े रहने के बाद कहा—महाराज, यह तो जन्म भर की गुलामी हुई!

विप्र—गुलामी समझो, चाहे मजदूरी समझो। मैं अपने रुपये भराए बिना तुमको कभी न छोड़ूँगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हाँ, जब कोई न रहेगा तब की बात दूसरी है।

इस निर्णय की कहीं अपील न थी। मजूर की जमानत कौन करता? कहीं शरण न थी, भागकर कहाँ जाता? दूसरे दिन से उसने विप्रजी के यहाँ काम करना शुरू कर दिया। सवा सेर गेहूँ की बदौलत उम्र भर के लिए गुलामी की बेड़ी पैरों में डालनी पड़ी। उस अभागे को अब अगर किसी विचार से संतोष होता था, तो वह यह था कि यह मेरे पूर्व-जन्म का संस्कार है। स्त्री को वे काम करने पड़ते थे, जो उसने कभी न किए थे। बच्चे दाने को तरसते थे, लेकिन शंकर चुपचाप देखने के सिवा और कुछ न कर सकता था। वह गेहूँ के दाने किसी देवता के शाप की भाँति पूरे जीवन उसके सिर से न उतरे।

शंकर ने विप्रजी के यहाँ 20 वर्ष तक गुलामी करने के बाद इस दुस्सार संसार से प्रस्थान किया। 120 रु० अभी तक उसके सिर पर सवार थे। पंडितजी ने उस गरीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा, इतने

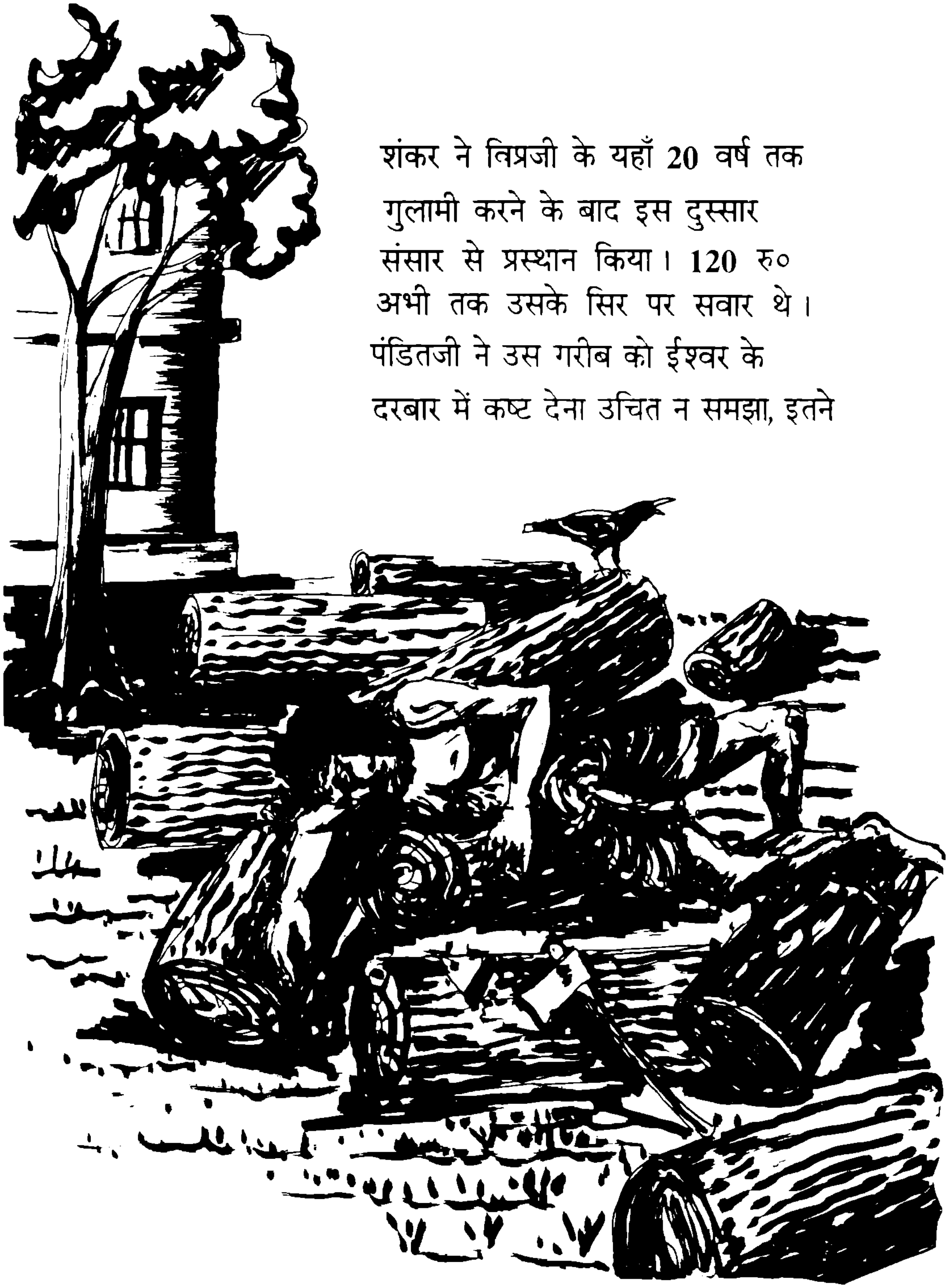

अन्यायी, इतने निर्दयी न थे। उसके जवान बेटे की गर्दन पकड़ी। आज तक वह विप्रजी के यहाँ काम करता है। उसका उद्धार कब होगा; होगा भी या नहीं, ईश्वर

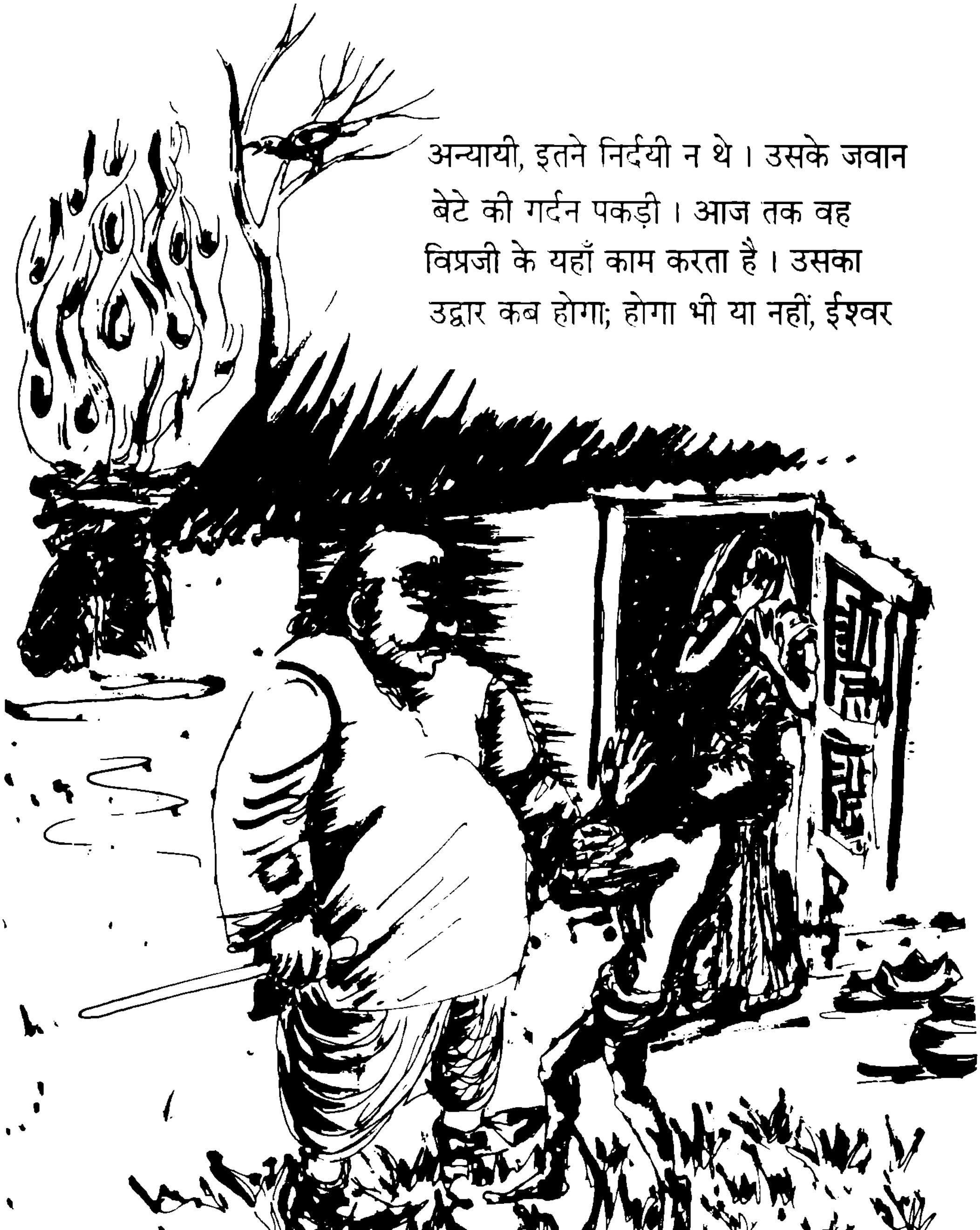

ही जाने।

पाठक ! इस वृत्ताँत को कपोल-कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है।

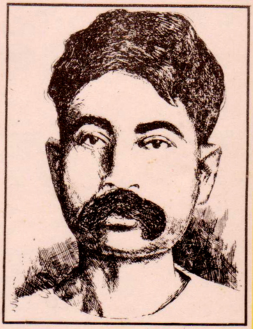

कलम के महान जादूगर प्रेमचन्द का जन्म 31 जुलाई, सन् 1880 ई० में 'लमही' नामक ग्राम में हुआ था।

प्रेमचन्द आदर्शवादी-यथार्थवादी कथाकार थे। उन्होंने सारा जीवन गरीबी से लड़ते हुए और लिखते हुए ही बिताया। वे आदमी का दिल बदलने के लिए लिखते थे।

प्रेमचन्द ने तीन सौ से अधिक कहानियाँ लिखीं। प्रेमचन्द की कुछ दूसरी प्रमुख रचनाएँ हैं—'सेवा सदन', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि', 'निर्मला', 'गबन', 'गोदान', (उपन्यास)।

उनकी मृत्यु 8 अक्तूबर, सन् 1936 ई० को हुई।